लक्ष्मी अची और अन्य

बनाम

टी.वी.वी. कैलासा थेवर और अन्य

(एस.के. दास, ए.के. सरकार, एम. हिदायतुल्लाह और एन. राजगोपाल अयंगर, न्यायाधीशगण)

ऋण राहत - कृषक - डिक्री ऋण को कम करना - लंबित अपील के लागू होने वाले क़ानून को सक्षम करना - अपील डिक्री के बाद किया गया आवेदन, यदि पूर्व निर्णय द्वारा वर्जित है- मद्रास कृषक राहत अधिनियम, 1938 (मद्रा. 4/1938), जैसा कि मद्रास अधिनियम 23/1948 द्वारा संशोधित है, धारायें 16 (iii), 19 (2)।

अपीलार्थियों ने प्रत्यर्थी संख्या 1 और प्रतिवादीगण के रूप में अन्य लोगों के खिलाफ बंधक पर मुकदमा दायर किया था और इसमें 15 मई, 1937 को प्रारंभिक डिक्री और 20 जनवरी, 1938 को एक अंतिम डिक्री प्राप्त की थी। प्रारंभिक डिक्री के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय में अपीलें दायर की गईं। जब अपीलें वहां लंबित थीं, मद्रास कृषक राहत अधिनियम, 1938 लागू हुआ। इस मुकदमे में प्रत्यर्थी संख्या 1 के अलावा अन्य प्रतिवादियों ने इस अधिनियम के तहत राहत के लिए आवेदन किया। आवेदन सफल हुए और उच्च न्यायालय ने

अधिनियम के अनुसार वसूली योग्य राशि को कम करने के बाद 25 मार्च, 1942 को एक नई प्रारंभिक डिक्री पारित की।

प्रत्यर्थी संख्या 1 ने न तो मुकदमा लड़ा था और न ही अपीलों में उपस्थित हुआ था न ही राहत के लिए अधिनियम के तहत कोई आवेदन किया। इसलिए, उच्च न्यायालय द्वारा पारित प्रारंभिक डिक्री ने उसके खिलाफ विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री की पुष्टि की। इसके बाद प्रत्यर्थी संख्या 1 ने अधिनियम के तहत राहत के लिए विचारण न्यायालय में आवेदन किया लेकिन आवेदन इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि उच्च न्यायालय के फैसले के मद्देनजर आवेदन विचारण न्यायालय में सुनवाई योग्य नहीं था। इसके बाद प्रत्यर्थी संख्या 1 ने एकपक्षीय डिक्री को रद्द करने के लिए उच्च न्यायालय में आवेदन किया, क्योंकि इसने उसे अधिनियम के तहत राहत के अधिकार से वंचित कर दिया, लेकिन यह भी कि आवेदन भी खारिज कर दिया गया।

25 जनवरी, 1949 को, मद्रास अधिनियम XXIII/1948 को धारा 19 में एक उप-धारा (2) जोड़कर, 1938 के अधिनियम में संशोधन करते हुए पारित किया गया था। इस संशोधन के बाद, धारा 19 में लिखा गया, "(1) जहां इस अधिनियम के प्रारंभ होने से पहले, एक अदालत ने ऋण की अदायगी के लिए एक डिक्री पारित की है, वह किसी भी निर्णीत ऋणी के आवेदन पर, जो कृषक है... इस अधिनियम के उपबंधों को ऐसी

डिक्री पर लागू करें और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में किसी भी बात के बावजूद, तदनुसार डिक्री में संशोधन करें या संतुष्टि दर्ज करें, जैसा भी मामला हो। (2) उप-धारा (I) के उपबंध उन मामलों पर भी लागू होंगे, जहां इस अधिनियम के लागू होने के बाद, किसी न्यायालय ने ऐसे लागू होने पर देय ऋण की अदायगी के लिए एक डिक्री पारित की है।" संशोधित अधिनियम की धारा 16 में प्रावधान है, "इस अधिनियम द्वारा किए गए संशोधन निम्नलिखित मुकदमों और कार्यवाहियों पर लागू होंगे, अर्थात्: ..... (iii) सभी मुकदमे और कार्यवाहियां जिनमें पारित डिक्री या आदेश इस अधिनियम के लागू होने से पहले पूर्ण रूप से निष्पादित या संतुष्ट नहीं हुए हैं...।" प्रत्यर्थी संख्या 1 ने संशोधन के मद्देनजर अधिनियम के तहत राहत के लिए फिर से विचारण न्यायालय में आवेदन किया लेकिन इस आवेदन को खारिज कर दिया गया। इसके बाद प्रत्यर्थी संख्या 1 ने उच्च न्यायालय में अपील की जिसने अधिनियम के तहत राहत दे दी। इसके बाद अपीलार्थियों ने सुप्रीम कोर्ट में अपील की।

अभिनिर्धारित किया गया, कि विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को 25 मार्च, 1942 को उच्च न्यायालय द्वारा पारित प्रारंभिक डिक्री द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था। इस प्रारंभिक डिक्री के आधार पर अंतिम डिक्री 25 सितंबर, 1943 को जिला न्यायाधीश द्वारा

पारित की गई थी, और यह मामले में एकमात्र प्रवर्तनशील डिक्री थी। इसलिए, 1938 के अधिनियम की धारा 19 (2) सपठित संशोधित अधिनियम की धारा 16 (iii) ने प्रतिवादी संख्या 1 के पक्ष में एक नया अधिकार बनाया गया।

जोवाद हुसैन बनाम गेंदन सिंह, ए.आई.आर. (1926) पी.सी. 93, गजाधर सिंह बनाम *किशन जीवन लाल,* (1917) आई.एल.आर. 39 सभी। 641, *कलेक्टर सीमा शुल्क कलकत्ता* बनाम *द ईस्ट इंडियन कमर्शियल कंपनी लिमिटेड* [1963] 2 एस.सी.आर. 563, संदर्भित।

अधिनियम में "ऋण" शब्द में डिक्रीत ऋण शामिल है।

नारायणन चेट्टियार बनाम *अम्मामलाई चेट्टियार*, [1959] पूरक 1 एस.सी.आर. 237, का अनुसरण किया गया।

संशोधित अधिनियम की धारा 16 का खंड (iii) इस मामले पर लागू होता है क्योंकि संशोधित अधिनियम के लागू होने से पहले अंतिम डिक्री पूरी तरह से निष्पादित नहीं हुई थी और जिसने धारा 19 की उपधारा (1) के लाभ के लिए प्रतिवादी संख्या 1 में एक नया अधिकार बनाया।

प्रतिवादी संख्या 1 को अधिनियम के तहत राहत के लिए उसके पहले के आवेदनों को खारिज करने के कारण संशोधित अधिनियम द्वारा

दिए गए नए अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है, जो अधिकार के निर्माण से पहले बनाए गए थे।

सिविल अपील क्षेत्राधिकार: सिविल अपील संख्या 617/1960

सी.एम.ए. संख्या 355/951 में मद्रास उच्च न्यायालय के 2 दिसंबर, 1955 के निर्णय और आदेश से विशेष अनुमति द्वारा अपील।

अपीलार्थियों की ओर से - ए. वी. विश्वनाथ शास्त्री, आर. गणपति अय्यर और जी. गोपालकृष्णन।

प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से - एम.के. राममूर्ति, डी. पी. सिंह, आर. के. गर्ग और एस. सी. अग्रवाल।

1963, 7 मार्च।

न्यायालय का फैसला एस. के. दास, न्यायाधीश द्वारा सुनाया गया।

यह अपील विशेष अनुमति द्वारा मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश दिनांकित 2 दिसंबर, 1955 से की गई है जिसके द्वारा उक्त न्यायालय ने विद्वान जिला न्यायाधीश, पूर्वी तंजौर के आदेश दिनांकित 30 अगस्त, 1950 को रद्द कर दिया जो मद्रास कृषक राहत अधिनियम (अधिनियम IV/1938) की धारा 19 के तहत प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा किए गए एक आवेदन पर पारित किया गया, जिसे इसके बाद मूल अधिनियम कहा गया है, जैसा कि मद्रास कृषक राहत (संशोधन)

अधिनियम, 1948 (अधिनियम XXIII/1948) द्वारा संशोधित किया गया है। उक्त आदेश के द्वारा विद्वान जिला न्यायाधीश ने आवेदन को कानून की दृष्टि से सिद्ध नही पाते हुए खारिज कर दिया। उच्च न्यायालय ने उस आदेश को इस आधार पर रद्द कर दिया कि उसके खिलाफ पारित डिक्री को कम करने के लिए प्रत्यर्थी के आवेदन को तुरंत खारिज नहीं किया जाना चाहिए था और विद्वान जिला न्यायाधीश को इस सवाल पर विचार करना चाहिए था कि क्या प्रत्यर्थी एक कृषक था जो मूल अधिनियम, 1948 में संशोधित, के लाभ का हकदार था।

तात्विक तथ्य बहुत अधिक विवाद में नहीं हैं, लेकिन यह उन मामलों में से एक है जिसमें मामले में शामिल एक बहुत ही छोटे बिंदु केम मूल्यांकन के लिए एक लंबा वृतांत बताया जाना चाहिए। इसमें शामिल संक्षिप्त बिंदु यह है कि क्या 6 दिसंबर 1950 को ओ.एस. संख्या 30/1934 में जिला न्यायाधीश, पूर्वी तंजौर के समक्ष प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा किया गया आवेदन कानून की दृष्टि से सिद्ध नहीं था।

अब हम लम्बा वृतांत बता सकते हैं। हमारे समक्ष अपीलार्थीगण मूल वादीगण के प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने बंधकदार के रूप में प्रत्यर्थी संख्या 1, जो मुकदमे में प्रतिवादी संख्या 1 था, और छह अन्य व्यक्तियों के खिलाफ बंधक के प्रवर्तन के लिए जिला न्यायाधीश, पूर्वी तंजौर के न्यायालय में एक मुकदमा (ओ.एस. संख्या 30/1934 के रूप

मे) संस्थित किया था। जिस बंधक बंधपत्र पर मुकदमा किया गया था, वह प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा अपने और अपने नाबालिग अविभाजित भाई, प्रतिवादी संख्या 2 के लिए निष्पादित किया गया था, और प्रतिवादीगण 3 से 7 की ओर से अधिकृत एजेंट के रूप में भी निष्पादित किया गया था, जो एक संयुक्त पारिवारिक व्यवसाय में रुचि रखते थे। प्रतिवादी संख्या 1 को छोड़कर, जिसके विरुद्ध यह एकतरफा कार्यवाही की गई थी, सभी प्रतिवादीगण ने मुकदमा लड़ा था। 15 मई, 1937 को एक प्रारंभिक डिक्री पारित की गई थी, जिसके द्वारा प्रतिवादी संख्या 1 और प्रतिवादीगण 3 से 7 द्वारा 1,08,098/- रुपये की राशि का भुगतान करने का निर्देश दिया गया था, जिसकी अदम अदाएगी पर वादीगण को बंधक संपत्ति की बिक्री के लिए अंतिम डिक्री के लिए आवेदन करने का हकदार घोषित किया गया और प्रतिवादी संख्या 2 के खिलाफ मुकदमा खारिज कर दिया गया। इस डिक्री के खिलाफ, मद्रास उच्च न्यायालय में दो अपीलें की गईं, एक प्रतिवादीगण 3 से 7 (अपील संख्या 48/1938 के रूप मे) द्वारा, जिन्होंने तर्क दिया कि बंधक उन पर या संयुक्त परिवार की संपत्ति में उनके हिस्सों पर बाध्यकारी नहीं था; और दूसरा वादीगण द्वारा (अपील संख्या 248/1938 के रूप मे), जिन्होंने विचारण न्यायाधीश के फैसले के औचित्य को चुनौती दी, जहां तक कि इसने प्रतिवादी संख्या 2 के खिलाफ उनके दावे को खारिज कर दिया। इन

अपीलों के लंबित रहने के दौरान मूल अधिनियम लागू हो गया और प्रतिवादीगण 2 से 7 द्वारा उच्च न्यायालय में प्रार्थना करते हुए आवेदन किए गए कि उनके खिलाफ डिक्री पारित होने की स्थिति में, मूल अधिनियम के उपबंधों के अनुसार डिक्रीत ऋण को कम किया जा सकता है। प्रतिवादी संख्या 1 जिसने कार्यवाही के किसी भी चरण में अपील नहीं की, उसने ऐसा कोई आवेदन नहीं किया। उच्च न्यायालय ने इन आवेदनों को जांच के लिए निचले न्यायालय में भेज दिया और इस सवाल पर निष्कर्ष निकालने को कहा कि क्या आवेदक कृषक थे और यदि हां, तो डिक्रीत बकाया को किस हद तक कम किया जाना चाहिए। जिला न्यायाधीश ने आवश्यक जांच की और निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि आवेदक कृषक थे और यदि ऋण कम किया गया तो 1 अक्टूबर 1937 से लागत को छोड़कर छह प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से ब्याज के साथ 49,255 रुपये होगा। इस निष्कर्ष की प्राप्ति पर, अपीलें अंतिम सुनवाई के लिए निर्धारित की गईं और 25 मार्च, 1942 के अपने निर्णय द्वारा मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने निचले न्यायालय के निष्कर्ष को स्वीकार कर लिया और यह अभिनिर्धारित कियागया कि प्रतिवादी 2 से 7 ऋण कम करने के हकदार थे, लेकिन चूंकि प्रतिवादी संख्या 1 की ओर से कोई आवेदन नहीं किया गया था, इसलिए उन्हें मूल अधिनियम के तहत किसी राहत का हकदार नहीं माना गया। इस

निर्णय के अनुसार एक डिक्री तैयार की गई। प्रतिवादीगण 2 से 7 द्वारा देय राशि 49,255 रुपये बताई गई थी, जिस पर छह प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से ब्याज दिया गया था, जबकि जहां तक प्रतिवादी संख्या 1 का संबंध था, ब्याज दर के संबंध में मामूली संशोधन के अधीन विचारण न्यायाधीश की डिक्री की पुष्टि की गई। इसके बाद प्रतिवादी नंबर 1 ने जिला न्यायाधीश, पूर्वी तंजौर की अदालत में एक आवेदन दायर किया, जिसमें मूल अधिनियम के तहत राहत का दावा करते हुए आरोप लगाया गया कि वह भी एक कृषक था और इसलिए अधिनियम के लाभों का हकदार था। इसके बाद प्रतिवादी संख्या 1 ने जिला न्यायाधीश, पूर्वी तंजौर के न्यायली में एक आवेदन दायर किया, जिसमें मूल अधिनियम के तहत राहत का दावा करते हुए अभिकथन किया कि वह भी एक कृषक था और इसलिए अधिनियम के लाभों का हकदार था। इस आवेदन को 25 फरवरी, 1943 को इस आधार पर खारिज कर दिया गया था कि चूंकि उच्च न्यायालय द्वारा पहले ही एक डिक्री पारित की जा चुकी थी, जो निश्चित रूप से मूल अधिनियम के तहत किसी भी राहत के उनके दावे को अस्वीकार कर देती थी, ऐसे आवेदन पर निचले न्यायालय द्वारा विचार नहीं किया जा सकता था। प्रतिवादी नंबर 1 द्वारा उठाया गया अगला कदम उच्च न्यायालय में एक आवेदन दायर करना था जिसमें एकपक्षीय डिक्री को रद्द करने की प्रार्थना की गई थी जिसने उसे मूल

अधिनियम के लाभों से वंचित कर दिया था। 13 दिसम्बर, 1943 को उच्च न्यायालय ने यह आवेदन खारिज कर दिया। चूंकि उच्च न्यायालय द्वारा पारित प्रारंभिक डिक्री के अनुसार कोई भुगतान नहीं किया गया था, उसी के संदर्भ में 25 सितंबर, 1943 को जिला न्यायाधीश द्वारा एक अंतिम डिक्री पारित की गई थी। इस अंतिम डिक्री के निष्पादन के लिए कार्यवाही 16 अगस्त, 1944 को शुरू की गई थी जब जिला न्यायाधीश, पूर्वी तंजौर के न्यायालय में एक निष्पादन याचिका दायर की गई थी। कुछ बंधक संपत्तियों को डिक्रीधारकों द्वारा कुल 12,005 रुपये में बेचा और खरीदा गया था और उस राशि के लिए डिक्री की आंशिक संतुष्टि दर्ज की गई थी। इन कार्यवाहियों के दौरान निर्णीत-ऋणी द्वारा निपटान की कुछ शर्तों की पेशकश की गई थी। डिक्री धारकों की संपत्ति तब रिसीवर्स के हाथों में थी, और ऐसा प्रतीत होता है कि रिसीवर्स न्यायालय की मंजूरी के साथ प्रतिवादी संख्या 2 से या उसकी ओर से केवल 24,000/- रुपये प्राप्त करने के लिए और उसे और बंधक संपत्ति के उसके हिस्से को डिक्रीटल चार्ज से मुक्त करने के लिए सहमत हुए। इसी तरह, रिसीवर्स प्रतिवादीगण 3 से 7 तक से 48,000 रुपये प्राप्त करने और उन्हें और उनकी संपत्तियों को डिक्रीटल ऋण से मुक्त करने के लिए सहमत हुए। प्रतिवादी संख्या 1 के संबंध में भी रिसीवर्स 37,500 रुपये स्वीकार करने पर सहमत हुए और यह सहमति हुई कि

यदि किसी याकूब नादर ने प्रतिवादी संख्या 1 के खिलाफ डिक्री के विचार पर प्रतिवादी संख्या 1 की ओर से राशि का भुगतान किया, तो रिसीवर्स इसे स्वीकार करेंगे। हालाँकि प्रतिवादी संख्या 1 की ओर से ऐसा कोई भुगतान नहीं किया गया था। लेकिन प्रतिवादी संख्या 2 की ओर से 24,0OO/ रुपये की राशि का भुगतान किया गया और उसकी संपत्तियों को डिक्री से मुक्त कर दिया गया। प्रतिवादीगण 3 से 7 ने भी अपने डिक्रीटल ऋण के निर्वहन के लिए दो किश्तों में 48,000 रुपये का भुगतान किया। प्रतिवादी 2 से 7 द्वारा भुगतान की गई तीन रकमें कुल मिलाकर रु. 72,610-12-0 हैं। 6 मार्च, 1947 को प्रतिवादी संख्या 1 ने अदालत में 3215/ रुपये की एक राशि जमा की और धारा 47 और आदेश XXI आर. 2 सी.पी.सी. के तहत एक याचिका में प्रार्थना की गई कि प्रतिवादीगण 2 से 7 द्वारा पहले से किए गए भुगतान के साथ उसके द्वारा जमा की गई राशि ने प्रतिवादी 2 से 7 के पक्ष में उच्च न्यायालय द्वारा कम किए गए डिक्री के तहत देय राशि को पूरी तरह से खत्म कर दिया; प्रतिवादी संख्या 1 ने प्रार्थना की कि चूंकि डिक्री एक और अविभाज्य थी, डिक्री की पूर्ण संतुष्टि को बंधक संपत्ति और प्रतिवादी संख्या 1 को डिक्रीटल ऋण के संबंध में किसी भी अन्य दायित्व से मुक्त करते हुए दर्ज किया जाना चाहिए। प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा अपनाई गई स्थिति, वास्तव में, यह थी कि बंधक ऋण एक और

अविभाज्य था और भले ही डिक्री में प्रतिवादियों के दो समूहों द्वारा देय अलग-अलग राशियों का उल्लेख किया गया था, डिक्री-धारक डिक्री की शर्तों के तहत प्रतिवादीगण 2 से 7 द्वारा भुगतान की जाने वाली निर्देशित राशि के भुगतान पर भी सम्पूर्ण बंधक संपत्ति को छोड़ने के लिए बाध्य थे। प्रतिवादी संख्या 1 के इस तर्क को जिला न्यायाधीश ने खारिज कर दिया था, लेकिन अपील पर उच्च न्यायालय ने इसे स्वीकार कर लिया, जिसने प्रतिवादी संख्या 1 के आवेदन की अनुमति दी और निर्देश दिया कि नीचले न्यायालय को बंधक डिक्री की पूर्ण संतुष्टि दर्ज करनी चाहिए। इसके बाद डिक्री-धारक अपील (सी.ए. संख्या 32/1950) में इस न्यायालय में आए और इस न्यायालय का फैसला *वी. रामास्वामी अयंगर और अन्य* बनाम *टी.एन.वी. कैलासा थावर*[1] में रिपोर्ट किया गया है। इस न्यायालय ने माना कि यद्यपि सामान्य कानून निस्संदेह यह है कि बंधक डिक्री एक और अविभाज्य है, नियम के अपवादों को विशेष परिस्थितियों में स्वीकार किया जाता है जहां बंधकदार के कहने पर बंधक की अखंडता भंग हो गई है। इस न्यायालय ने आगे अभिनिर्धारित किया कि निर्णीत-ऋणी में से एक के पक्ष में बंधक डिक्री को कम करने में कानून में कुछ भी गलत नहीं था, जबकि अन्य के संबंध में डिक्री को बरकरार रखा गया था; मूल अधिनियम एक विशेष क़ानून था जिसका

1 [1951] एस.सी.आर. 292

उद्देश्य सामान्य रूप से ऋणीयों को राहत देना नहीं था, बल्कि केवल ऋणीयों के एक निर्दिष्ट वर्ग को राहत देना था, अर्थात्, जो अधिनियम द्वारा परिभाषित कृषक हैं और इस हद तक यह सामान्य कानून पर आधारित था। इस न्यायालय के निर्णय का परिणाम यह हुआ कि प्रथम प्रतिवादी के विरुद्ध डिक्री अनिर्णीत रही। जब सर्वोच्च न्यायालय में अपील लंबित थी, तब 1948 का संशोधित अधिनियम बनाया गया और यह 25 जनवरी, 1949 को लागू हुआ। वर्तमान में, हम इस संशोधित अधिनियम के उपबंधों को पढ़ेंगे। इन उपबंधों के बल पर प्रतिवादी संख्या 1 ने डिक्रीत ऋण को कम करने के लिए फिर से आवेदन किया। यह आवेदन संख्या 79/1950 था। यह वही आवेदन था जिसे विद्वान जिला न्यायाधीश ने कानून की दृष्टि से सिद्ध नहीं माना था। अपील पर, उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि आवेदन सिद्ध था और जांच की जानी चाहिए कि क्या प्रतिवादी संख्या 1 मूल अधिनियम के अर्थ के तहत कृषक है। वर्तमान अपील उच्च न्यायालय के इस आदेश के विरुद्ध की गई है।

अब इससे पहले कि हम इस अपील में उठने वाले प्रश्नों पर विचार करने के लिए आगे बढ़ें, मूल अधिनियम और 1948 के संशोधित अधिनियम के प्रासंगिक उपबंधों को निर्धारित करना आवश्यक है, जिसमें प्रतिवादी संख्या 1 (यहां प्रत्यर्थी संख्या 1) लाभ का दावा करता है। हमें

पहले मूल अधिनियम की धारा 19 को पढ़ना चाहिए। वह भाग इन शर्तों में है:

> "19. (1) जहां इस अधिनियम के प्रारंभ होने से पहले, एक न्यायालय ने ऋण के पुनर्भुगतान के लिए एक डिक्री पारित की है, यह किसी भी निर्णीत-ऋणी के आवेदन पर, जो कृषक है या हिंदू संयुक्त परिवार ऋण के संबंध में, परिवार के किसी भी सदस्य के आवेदन पर, चाहे वह निर्णीत-ऋणी हो या नहीं या डिक्री धारक के आवेदन पर, इस अधिनियम के प्रावधानों को ऐसी डिक्री पर लागू करें और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में किसी भी बात के बावजूद, तदनुसार डिक्री में संशोधन करें या संतुष्टि दर्ज करें, जैसा भी मामला हो:
>
> बशर्ते कि ऐसे किसी भी डिक्री के संबंध में किए गए सभी भुगतान या वसूल की गई रकम, चाहे इस अधिनियम के लागू होने से पहले या बाद में, पहले सभी लागतों के भुगतान में लागू किया जाएगा जैसा कि मूल रूप से लेनदार को डिक्री किया गया था।

(2) उपधारा (1) के उपबंध उन मामलों पर भी लागू होंगे, जहां इस अधिनियम के लागू होने के बाद, न्यायालय ने ऐसे लागू होने पर देय ऋण की अदायगी के लिए एक डिक्री पारित की है।"

यह ध्यान देने योग्य है कि मूल अधिनियम में धारा 19 जैसी थी, उसे धारा 19 की उप-धारा (1) के रूप में पुनः क्रमांकित किया गया था और उप-धारा (2) को 1948 के संशोधित अधिनियम की धारा 10 द्वारा जोड़ा गया था। हम यहां 1948 के संशोधन अधिनियम की धारा 16 भी निर्धारित कर सकते हैं। वह भाग इन शर्तों में है:

"16. इस अधिनियम द्वारा किए गए संशोधन निम्नलिखित मुकदमों और कार्यवाहियों पर लागू होंगे, अर्थात्: -

(i) इस अधिनियम के लागू होने के बाद शुरू किए गए सभी मुकदमे और कार्यवाही;

(ii) इस अधिनियम के लागू होने से पहले संस्थित सभी मुकदमे और कार्यवाहियां, जिनमें कोई डिक्री या आदेश पारित नहीं किया गया है, या जिनमें पारित डिक्री या आदेश इसके लागू होने से पहले अंतिम नहीं हुआ है;

(iii) वे सभी मुकदमे और कार्यवाहियां जिनमें पारित डिक्री या आदेश इस अधिनियम के लागू होने से पहले पूर्ण रूप से निष्पादित या संतुष्ट नहीं हुए हैं:

बशर्ते कि किसी भी लेनदार को इस अधिनियम के लागू होने से पहले भुगतान की गई या उसके द्वारा वसूल की गई किसी भी राशि को वापस करने की आवश्यकता नहीं होगी।"

प्रत्यर्थी संख्या 1 ने दावा किया कि वह 1948 के संशोधित अधिनियम की धारा 19 की उप-धारा (2) सपठित धारा 16 के खंड (iii) के लाभ का हकदार था। विद्वान जिला न्यायाधीश ने निम्नलिखित तीन आधारों पर इस दावे को खारिज कर दिया:

(i) उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि ओ.एस. संख्या 30/1934 में प्रारंभिक डिक्री मूल रूप से 15 मई, 1937 को पारित की गई थी और अंतिम डिक्री 28 जनवरी, 1938 को पारित की गई थी और ये दोनों तारीखें मूल अधिनियम के लागू होने से पहले की थीं। यहां यह उल्लेखनीय है कि मूल अधिनियम 22 मार्च, 1938 को लागू हुआ था। इसलिए धारा 19

की उप-धारा (2) वर्तमान मामले पर लागू नहीं होती है।

(ii) दूसरा, उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि धारा 19 की उप-धारा (2) केवल उन मामलों पर लागू होती है जहां मूल अधिनियम के लागू होने की तिथि पर देय ऋण था; हालाँकि, वर्तमान मामले में, मूल अधिनियम के लागू होने की तिथि पर कोई ऋण देय नहीं था, ऋण एक डिक्री में परिणत हो गया था; इसलिए धारा 19 की उपधारा (2) लागू नहीं थी।

(iii) तीसरा, उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी संख्या 1 का उसके खिलाफ की गई डिक्री को कम करने का दावा जो 25 फरवरी 1943 को आई.ए. संख्या 104/1942 में जिला न्यायाधीश द्वारा उसके खिलाफ तय किया गया था और उसी दावे को बाद की कार्यवाही में उच्च न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दिया गया, प्रतिवादी संख्या 1 के लिए धारा 19 की उपधारा (I) के तहत नया दावा करके का विकल्प नहीं था क्योंकि हालांकि धारा 19 की उपधारा (I) में "सिविल प्रक्रिया संहिता में निहित

किसी भी बात के बावजूद" अभिव्यक्ति का उपयोग किया गया था, वह अभिव्यक्ति डिक्री में संशोधन और डिक्री की संतुष्टि दर्ज करने के मामले में संहिता के उपबंध से संबंधित है लेकिन इसमें पूर्व न्याय का सिद्धांत शामिल नहीं है, एक सिद्धांत जो संहिता की धारा 11 में निहित की तुलना में अधिक सामान्य और व्यापक है।

उच्च न्यायालय स्पष्ट रूप से इस आधार पर आगे बढ़ा कि वर्तमान मामले में मूल अधिनियम के प्रारंभ होने के बाद एक डिक्री पारित की गई थी और इसलिए 1948 के संशोधित अधिनियम द्वारा जोड़ी गई धारा 19 की उप-धारा (2) लागू की गई थी। उच्च न्यायालय ने कहा कि डिक्री धारकों की ओर से विद्वान जिला न्यायाधीश के दृष्टिकोण का समर्थन करने के लिए उसके समक्ष कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया था कि वर्तमान मामले में ऋण मूल अधिनियम के अर्थ में ऋण नहीं था क्योंकि यह मूल अधिनियम के प्रारंभ होने से पहले एक डिक्री में परिवर्तित हो गया था। उच्च न्यायालय ने तब संशोधित अधिनियम की धारा 16 का उल्लेख किया और अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी संख्या 1 संशोधित अधिनियम, 1948 की धारा 19 की उप-धारा (2) सपठित धारा 16 के खंड (iii) के लाभ का हकदार था और यह

परिस्थिति कि 1948 में इसके संशोधन से पहले मूल अधिनियम के लाभों के प्रतिवादी संख्या 1 के दावे को जिला न्यायाधीश द्वारा अस्वीकार कर दिया गया था और उच्च न्यायालय ने उसे नए अधिकार से वंचित नहीं किया था जो संशोधन अधिनियम ने उसे दिया था बशर्ते कि वह यह साबित करने में सक्षम था कि वह मूल अधिनियम के अर्थ के तहत एक कृषक था।

अपीलार्थियों की ओर से विद्वान अधिवक्ता ने हमारे समक्ष तर्क दिया है कि उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया विचार सही नहीं है। उन्होंने दलील दी है कि वर्तमान मामला धारा 19 की उप-धारा (2) के तहत नहीं आता है क्योंकि यह एक ऐसा मामला था जिसमें मूल अधिनियम के प्रारंभ होने से पहले, अर्थात् 22 मार्च, 1938 से पहले ऋण की अदायगी के लिए एक डिक्री पारित की गई थी। उन्होंने बताया है कि जहां तक प्रतिवादी संख्या 1 का सवाल है, उसके खिलाफ 15 मई, 1937 को प्रारंभिक डिक्री पारित की गई थी और 28 जनवरी, 1938 को अंतिम डिक्री पारित की गई थी। उन्होंने हमें 25 मार्च, 1942 को उच्च न्यायालय में पारित डिक्री का भी हवाला दिया है। उस डिक्री के खंड (6) में यह कहा गया था कि जहां तक प्रतिवादी संख्या 1 का संबंध है, 15 मई 1937 को पारित डिक्री में विद्वान जिला न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्देश की पुष्टि की जाएगी। इसलिए, हमारे सामने तर्क यह है कि

एकमात्र उपबंध जिसमें प्रतिवादी संख्या 1 लाभ का दावा करने का हकदार था, वह धारा 19 है क्योंकि यह 1948 में इसके संशोधन से पहले था जो उन मामलों पर लागू होता था जहां मूल अधिनियम के शुरू होने से पहले एक डिक्री पारित की गई थी और उस प्रावधान के तहत प्रतिवादी संख्या 1 के दावे को जिला न्यायाधीश और उच्च न्यायालय दोनों ने प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा किए गए पिछले आवेदनों पर खारिज कर दिया था, उसी प्रावधान के तहत नया दावा करना उसके लिए विकल्प नहीं था। विद्वान अधिवक्ता ने यह भी प्रस्तुत किया है कि संशोधित अधिनियम, 1948 के प्रावधानों का वर्तमान मामले में कोई उपयोग नहीं है और इसलिए प्रतिवादी संख्या 1 को कोई नया अधिकार नहीं दिया गया है।

ऊपर बताए गए तर्कों के संबंध में निर्णय के लिए महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि क्या वर्तमान मामले में डिक्री मूल अधिनियम के प्रारंभ होने से पहले या उसके प्रारंभ होने के बाद पारित की गई है। यह वास्तव में सत्य है कि जिला न्यायाधीश ने 15 मई, 1937 को प्रारंभिक डिक्री और 28 जनवरी, 1938 को अंतिम डिक्री पारित की। हालाँकि, इन डिक्रीयों को प्रारंभिक डिक्री द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था जिसे उच्च न्यायालय ने 25 मार्च 1942 को पारित कर दिया। जैसा कि इस अदालत ने *रामास्वामी अयंगर* के मामले (पूर्वोक्त) में बताया था, उच्च

न्यायालय के फैसले के अनुसार एक प्रारंभिक डिक्री तैयार की गई थी जिसके द्वारा प्रतिवादीगण 2 से 7 से संबन्धित देय राशि कम कर दी गई थी जबकि जहां तक प्रतिवादी संख्या 1 का संबंध था ब्याज दर के संबंध में मामूली संशोधन के अधीन विचारण न्यायधीश की डिक्री की पुष्टि की गई। 25 मार्च 1942 को पारित डिक्री एक प्रारंभिक डिक्री थी क्योंकि इसमें निर्देश दिया गया था कि डिक्री द्वारा भुगतान की जाने वाली राशि के भुगतान में चूक होने पर, बंधक संपत्तियों को बेच दिया जाएगा। जब उच्च न्यायालय के प्रारंभिक डिक्री के निर्देशानुसार कोई भुगतान नहीं किया गया तो 25 सितंबर, 1943 को जिला न्यायाधीश द्वारा स्वयं इसके संदर्भ में एक अंतिम डिक्री पारित की गई। यह वह डिक्री थी जिसे क्रियान्वित किया गया था। यह अच्छी तरह से स्थापित है कि जहां प्रारंभिक डिक्री के खिलाफ अपील की गई है, अंतिम डिक्री के लिए आवेदन करने का समय अपील डिक्री की तारीख से चलता है; देखें- *जोवाद हुसैन* बनाम *गेंदन सिंह*[2]। उस फैसले में प्रिवी काउंसिल ने *गजाधर सिंह* बनाम *किशन जीवन लाल*[3] के मामले में न्यायाधीश बेनर्जी की निम्नलिखित टिप्पणियों को मंजूरी के साथ उद्धृत किया।

> "मुझे ऐसा लगता है कि यह नियम - बंधक कार्यों में अंतिम डिक्री के लिए आवेदन को विनियमित

2 ए.आई.आर. 1926 पी.सी. 93

3 (1917) आई.एल.आर.; 39 ऑल, 641

करने वाला नियम - एक बंधक पर बिक्री के मुकदमे में केवल एक अंतिम डिक्री पारित करने पर विचार करता है। अंतिम डिक्री बनाने के लिए आवश्यक शर्त एक प्रारंभिक डिक्री का अस्तित्व है जो पार्टियों के बीच निर्णायक बन गई है; जब कोई अपील की जाती है, तो यह अपील न्यायालय की डिक्री होती है जो मामले में अंतिम डिक्री होती है।"

यह सिद्धांत कि अपील आदेश अपील के निपटारे के बाद प्रवर्तनशील आदेश है, जो इस नियम का आधार है कि निचले न्यायालय की डिक्री अपील न्यायालय की डिक्री में विलीन हो जाती है, जिसे इस न्यायालय द्वारा *सीमा शुल्क कलेक्टर, कलकत्ता* बनाम *द ईस्ट इंडिया कमर्शियल को. लि.*[4], (8) में अनुमोदित किया गया है। इसलिए हमारा विचार है कि वर्तमान मामले में प्रवर्तनशील डिक्री 25 मार्च, 1942 को उच्च न्यायालय द्वारा की गई प्रारंभिक डिक्री थी जिसे 25 सितंबर, 1943 को निर्णायक बना दिया गया था। यह स्थिति होने के कारण, वर्तमान मामला ऐसा है जिसमें धारा 19 की उप-धारा (2) और 1948 के संशोधित अधिनियम की धारा 16 के उपबंध भी शामिल हैं। धारा 19 की उप-धारा (2) सपठित धारा 16 का खंड (iii) प्रतिवादी संख्या 1 (यहाँ प्रत्यर्थी संख्या

4 [1963] 2 एस.सी.आर. 563.

1) को मूल अधिनियम के लाभ का दावा करने का अधिकार देती है, भले ही 1948 के संशोधन अधिनियम से पहले के उनके आवेदन खारिज कर दिए गए थे। धारा 19 की उपधारा (2) सपठित धारा 16 प्रत्यर्थी संख्या 1 के पक्ष में एक नया अधिकार बनाती है और उस अधिकार को पूर्व न्याय के सिद्धांत के आधार पर नकारा नहीं जा सकता है। *नारायणन चेट्टियार* बनाम *अन्नामलाई चेट्टियार*[5] के मामले में इस अदालत द्वारा धारा 16 के वास्तविक दायरे और प्रभाव पर विचार किया गया था। धारा 16 के खंड (iii) का उल्लेख करते हुए इस न्यायालय ने कहा:

> "खंड (iii), हमें यह स्पष्ट लगता है, उन मुकदमों और कार्यवाहियों पर लागू होता है जिनमें पारित डिक्री या आदेश निर्णायक बन गया था, परंतु 25 जनवरी, 1949 से पहले पूर्ण रूप से निष्पादित या संतुष्ट नहीं किया गया था: इसका मतलब यह है कि यद्यपि ऋण की अदायगी के लिए अंतिम डिक्री या आदेश 25 जनवरी, 1949 से पहले पारित किया गया था, फिर भी एक कृषक ऋणी अधिनियम के तहत राहत का दावा कर सकता है, बशर्ते कि डिक्री

5 [1959] पूरक 1 एस.सी.आर. 237

को उपरोक्त तिथि से पहले निष्पादित या पूरी तरह से संतुष्ट नहीं किया गया हो। इस संबंध में यह याद रखना चाहिए कि अधिनियम में 'ऋण' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। इसका मतलब नकद या वस्तु के रूप में कोई भी देनदारी है, चाहे वह प्रतिभूत हो या अप्रतिभूत, कृषक से देय हो, चाहे वह सिविल या राजस्व अदालत के डिक्री या आदेश के तहत देय हो या अन्यथा आदि। इसलिए, यह स्पष्ट है कि 'ऋण' शब्द में डिक्रीत ऋण शामिल है।"

हमारे समक्ष मामले में धारा 16 का खंड (iii) स्पष्ट रूप से लागू होता है क्योंकि अंतिम डिक्री जो 25 सितंबर 1943 को पारित की गई थी, संशोधन अधिनियम, 1948 के प्रारंभ होने से पहले, यानी 25 जनवरी 1943 से पहले, पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हुई थी। इसलिए, 1948 के संशोधित अधिनियम की धारा 16 के खंड (iii) के कारण प्रत्यर्थी संख्या 1 धारा 19 की उपधारा (2) के लाभ का हकदार था, और उसे उस लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता क्योंकि 1948 के संशोधित अधिनियम द्वारा उसे दिए गए नए अधिकार से पहले, मूल अधिनियम के तहत राहत पाने के उसके आवेदन खारिज कर दिए गए थे।

इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिकोण सही है और प्रत्यर्थी संख्या 1, 1948 के संशोधित अधिनियम की धारा 19 की उप-धारा (2) सपठित धारा 16 के खंड (iii) के लाभ का हकदार है, बशर्ते कि वह स्थापित करे कि वह मूलअधिनियम के अर्थ के अंतर्गत एक कृषक है। इसलिए अपील विफल हो जाती है और जुर्माने के साथ खारिज की जाती है।

अपील खारिज की गई।

[यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल **'सुवास'** की सहायता से **अनुवादक राहुल कुमार** द्वारा किया गया है।]

अस्वीकरण : यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।